

## विकास की भारतीय अवधारणा पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्ति

डॉ० शिप्रा पारीक

व्याख्याता, संस्कृत, एस.एस. जैन सुबोध स्नातकोत्तर (स्वायत्तशासी) महाविद्यालय, जयपुर, राजस्थान, भारत।

### प्रस्तावना

विकास की भारतीय अवधारणा मूलभूत रूप से पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति पर आधारित है, यतो हि मानव जीवन का उद्देश्य ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति है। इन चारों पुरुषार्थों में धर्म का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है, अतः निश्चित रूप में उसका हमारे जीवन में प्रामुख्य है। मनुस्मृति में धर्म का लक्षण निम्न प्रकार उल्लेखित किया है –

**श्रुतिस्मृतिसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।  
 एतच्चतुर्विधं प्राहुः साश्राद्धमस्य लक्षणम्॥** (मनुस्मृति)

श्रुति अर्थात् वेद, स्मृति अर्थात् धर्मशास्त्र, सज्जनों का आचरण और जो अपनी आत्मा को प्रिय लगे, लेकिन वेद के विरुद्ध नहीं हो, वह धर्म है। मानवीय जीवन में उक्त प्रकार के धर्म की स्थापना ही विकास है तथा धर्म का नाश ही विनाश है, अतः धर्म की स्थापना के लिये भारतभूमि पर अवतार होते हैं –

**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।  
 धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥** (गीता)

विकास के नाम पर आज जो धर्म की हानि हो रही है, वह वास्तव में विकास नहीं है क्योंकि हमारे शास्त्रों में उल्लिखित है – “धर्मो रक्षितः रक्षति” अर्थात् अच्छी तरह पालन किया गया धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है।

विकास की आड़ में मनुष्य धैर्य, क्षमा, दया, शुचि इन्द्रियों पर नियंत्रण, बुद्धि, विद्या, सुप्य, अक्रोध जैसे धर्म के तत्वों को त्याग रहा है जिससे वह विकास सार्थक विकास नहीं है, अतः उक्त तत्वों के पालन करते हुये जो विकास होगा, वही सच्चा विकास है।

अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ धर्म से विरुद्ध नहीं होने चाहिये “धर्माविरुद्धोऽर्थकामौ” हमारा अर्थ पुरुषार्थ, नैतिकता व आध्यात्मिकता पर टिका हुआ होना चाहिये, तभी वह सार्थक है अन्यथा वह अनर्थ होगा।

वैदिक काल में आर्यों की विकास की अवधारणा में अर्थशुचिता थी। वैदिक काल में भूमि पशु ही अर्थ का प्रमुख साधन थे, खेती आर्यों के अर्थ का आधार थी। इसलिये पृथ्वी को माता माना गया और मनुष्य को उसका पुत्र। अथर्ववेद में उल्लिखित है –

**“माताभूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः”** (अथर्ववेद 12/1/12)

भूमि को माता मानने से उसका उतना ही दोहन होना चाहिये, जो कि मानव के लिये हितकारी हो। हमें विकास के लिये उसका अन्धाधुंध दोहन नहीं करना चाहिये। आज इस कारण से ही पर्यावरणीय असंतुलन उत्पन्न हो गया है, ग्लोबल वार्मिंग, पर्यावरण

प्रदूषण, भूकम्प आदि के रूप में मानव समाज उसका दंश झेल रहा है। अतः हमें भूमि को माँ मानकर उसकी देखरेख करते हुये उपयोग करना लाभप्रद है।

परिश्रम ही विकास का आधार है, अगर बिना परिश्रम के अर्थ पैदा होता है तो वह अनिष्टकारी है इसलिये ऋग्वेद में कहा है –

**“न कृते श्रान्तस्य सख्याय देवाः”** (ऋग्वेद 4/33/11)

अर्थात् ईश्वर उनका मित्र है जो परिश्रम करते हैं। आज भ्रष्टाचार से तथा अन्य कुत्सित उपायों से जो धनार्जन हो रहा है वह विकास का आधार नहीं है, उससे समाज की अधोगति हो रही है।

श्रमिक को सर्वोपरि स्थान प्राप्त होना चाहिये क्योंकि विकास वही कर रहा है, अतः वेदों में कहा गया है कि श्रमिक को स्वामी स्वयं से पहले भोजन करावें।

**“स्वेषु भृत्येषु चैवाहि।”**

इस पृथ्वी से प्राप्त उत्पादन के उपहारों पर मानव मात्र व प्राणी मात्र का अधिकार है, अतः उसका वितरण सभी में यथोचित समान मात्रा में होना चाहिये – अतः अथर्ववेद में उल्लिखित –

**समानी प्रपा सध्वो अन्नभाग समानेमोषधे सहवोयुनाऽस्मि  
 सम्यजोग्निं सपर्यतारां नामिमवाकृता॥** (अथर्ववेद 5/19/6)

अर्थात् एक साथ धन लगाकर, एक साथ श्रम कर जो कुछ भी लाभ हो, उसका सभी में समान भाव से वितरण हो, अन्न व जल का समान भाव से वितरण हो, सभी लोग एक ही बन्धन नियमों में बंधकर कार्य करें।

वेदों में अनैतिक रूप से अर्थोपार्जन का निषेध किया गया है। कहा गया है कि द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) आदि अनैतिक कार्यों से धन प्राप्ति की चेष्टा नहीं करनी चाहिये, ऐसे लोगों को खेत में जाकर कृषि करने, पशुपालन करने और गृहस्थी चलाने के लिये कहा गया है –

**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिम इति कृषस्व**

**वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।**

**तत्र गावः कितवः तत्र जाया**

**तन्मे विचष्टे सवितायामर्थः॥** (ऋग्वेद 10/34/13)

काम नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति मानव जीवन में वांछित है किन्तु उसका संतुलन परमावश्यक है, अतः गीता में स्वयं भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है –

**“धर्माविरुद्धो कामोस्मि भरतर्षमः”** – (गीता)

अर्थात् हे अर्जुन, मैं धर्म के अवरुद्ध रहने वाला काम हूँ। इसका आशय यह है कि हमें हमारी कामनाओं की पूर्ति धार्मिक रीति से ही करनी चाहिये, अधर्म से पूरी की गयी कामनायें अपराध की श्रेणी में मानी जाती हैं जिनके लिये शास्त्रों में दण्ड व प्रायश्चित्त का विधान है।

हमारी कामनायें अर्थात् इच्छायें अनन्त होती हैं, हम उनकी अधिकाधिक पूर्ति को ही विकास मानने लगे हैं बल्कि हमारी एकादश इन्द्रियों की तृप्ति के लिये अनुचित कार्यों में भी संलग्न होते हैं। इसके कारण आर्थिक विषमता का देश में प्राबल्य है। हमारी भारतीय विकास की पद्धति ऐसी नहीं है उसमें सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर से परिपूर्ण मानकर अनासक्ति भाव से बांटकर भाग करने की बात कही है –

**ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्  
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृह्यः कस्यस्विध्नः॥ (इशोपनिषद्)**

हमें विकास की भारतीय पद्धति केवल भौतिक भागों को भोगने हेतु प्रेरित नहीं करती वह भौतिक विकास के साथ आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर प्रेरित करती है। इसमें बताया गया है कि हमारे जीवन की अवस्थाओं के अनुसार जीवन उद्देश्य होते हैं, इन उद्देश्यों की पूर्ति करते हुये अन्ततः हमें मोक्ष भी प्राप्त करनी है, यही हमारे जीवन का परं पुरुषार्थ है जैसे महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य में लिखा है –

**शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।  
वार्द्धकेमुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ (रघुवंश प्र./3)**

अर्थात् रघुवंश के राजा बालकपन में विद्याओं का अभ्यास करते थे, युवावस्था में विषयों को भोगने की कामना करते थे एवं वानप्रस्थावस्था में मुनिवृत्ती से जीवन चलाते थे व तदनन्तर योगी बनकर अपने शरीर का त्याग करते थे।

इस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन में प्राप्तव्य सभी लक्ष्य श्रेयस्कर होते थे। हमारा विकास का भारतीय आधार मानव जीवन के विकास से सम्बन्धित है, उसमें समग्रता की बात है वह सभी दृष्टियों को साथ लेकर चलता है, यदि चारों में से एक भी उपेक्षित या संतुलन रहित होगा तो वह विकास नहीं हो पायेगा।

पं० दीनदयाल उपाध्याय ने इन्हीं सबका सारांशभूत उल्लेख किया है, उनके अनुसार शरीर, बुद्धि, मन व आत्मा इन चारों का समन्वय ही मनुष्य जीवन है, चारों का विकास होना चाहिये। शरीर का विकास अत्यावश्यक है क्योंकि शास्त्रों में कहा है – “शरीरम् आद्यं खलु धर्मसाधनम्” अर्थात् शरीर ही प्रारम्भिक तौर पर धर्म का साधन है। यदि वह स्वस्थ और बलिष्ठ नहीं होगा तो कोई भी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होगा। अतः हमें इसकी शास्त्रदृष्टि से आयुर्वेद पद्धति से उचित देखभाल करनी चाहिये। बुद्धि के विकास के मार्ग के लिये हमें ज्ञान-विज्ञान-व्यवहार-लोक शास्त्र का अध्ययन करना चाहिये। मन को सदैव बुराइयों से दूर एवं सद्वृत्तियों से पूर्ण रखना है, उसमें निर्मलता होनी चाहिये तथा आत्मा अर्थात् अपने आपको अध्यात्म द्वारा जानने के प्रयत्न द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना आवश्यक है। इस प्रकार शरीर बुद्धि, मन व आत्मा का समष्टिगत विकास ही पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति है।

आज के युग में विकास के नाम पर मानव को सुविधाभोगी, आलसी, अकर्मण्य बनाया जा रहा है, उसके सर्वांगीण विकास का मार्ग अवरुद्ध हो गया है। समाज के लोग अपने पैतृक व्यवसायों को छोड़कर नौकरी की ओर दौड़ रहे हैं, जिससे पैतृक व्यवसायों द्वारा

प्राप्त होने वाली छोटी-छोटी सर्वसुलभ वस्तुयें भी विदेशी कम्पनियों बेचकर मुनाफा कमा रही हैं व व्यक्ति ऋण लेकर भी इन वस्तुओं को खरीद रहा है, दीपक के स्थान पर चाइनीज रोशनी, मुल्तानी के स्थान पर कैमिकल युक्त शैम्पू, आयुर्वेदिक पौष्टिक रसायनों के स्थान पर विदेशी गोलियां इत्यादि अनेकानेक विकृत वस्तुओं की गिरफ्त में भारतीय समाज आ चुका है।

विकास के लिये क्षेत्रीय व स्थानीय साधन नहीं अपनाये जा रहे। समाज में सह-अस्तित्व की भावना समाप्त होकर व्यक्ति अंधी दौड़ में शामिल होकर एकाकी हो गया है, अतः आवश्यकता यह है कि भारतीयों के द्वारा भारतीय संसाधनों से तथा भारतीय मान्यताओं की वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा भारत का विकास हो। ऐसा होने पर ही वह सार्थक विकास कहलायेगा।